प्रथम अध्याय

# भारतीय सामाजिक संस्था : स्वरूप एवं संकल्पना

## 1. भारतीय सामाजिक संस्था

समाज शब्द सम+√अज् (गत्यर्थक) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है—मिलकर चलना, बैठना, व्यवहार करना आदि। यह वह संस्था है, जिसे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा किसी विशेष उद्देश्य से स्थापित करता है। संसार में कोई भी प्राणी एंकागी जीवन व्यतीत नहीं करता। पशु-पक्षी आदि भी समूह में रहते हैं। मनुष्य भी संगठित रूप में समाज में रहता है और अपना विकास करता है, उससे पृथक् उसका अस्तित्त्व सम्भव नहीं है। समाज व्यक्ति की समष्टि रूप संज्ञा है। किसी भी समाज की व्यवस्था एवं संचालन में अनेक संस्थाएँ सहायक होती हैं, जिनके अपने उद्देश्य, संरचना व कार्य होते है तथा मनुष्य उनकी प्राथमिक इकाई होता है। दूसरे शब्दों में ये सभी संस्थाएँ प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से मनुष्य के जीवन का अनिवार्य अंग होती हैं और उनकी प्रत्येक गतिविधि मनुष्य को प्रभावित करती है और मुनष्य उन संस्थाओं को। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्र व समाजिक संस्थाएँ मानवधर्म से अनुप्राणित है और मानवधर्म समाजशास्त्र व संस्थाओं का प्राण है। समाज में छोटे व बड़े स्तर पर मानव के लिए आवश्यक अनेक संस्थाएँ कार्यरत होती हैं।

## 1.1 समाजिक संस्था का समाजशास्त्रीय स्वरूप

### (क) परिवार

परिवार समाज का मूलाधार है। यह सामाजिक संस्थाओं की सार्वभौमिक

व प्राथमिक इकाई है तथा मानवीय प्रवृत्ति और सामाजिक आवश्यकताओं का फल है। मनुष्य परिवार में ही जन्म लेता है और मृत्यु पर्यन्त उसकी सभी अवस्थाएँ परिवारिक संगठन में ही व्यतीत होती है। यहीं वह भाषा, समाज-व्यवहार आदि की भी शिक्षा ग्रहण करता है।

परिवार की रचना स्त्री व पुरुष के पारस्परिक संबधों के साथ होती है। परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, पुत्र,पुत्री आदि सभी साथ में रहते है। मानव के आध्यात्मिक व भौतिक उभयविध लक्ष्यों की प्राप्ति, काम-पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति व पालन-पोषण आदि विविध कर्मों की पूर्ति परिवार के माध्यम से ही होती है। परिवार के माध्यम से ही सामाजिक परम्पराएँ व प्रथाएँ सुरक्षित रहती हैं व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होती हैं।

पारिवारिक संस्था एक सार्वदेशिक संस्था है, जो प्राय: सभी समाजों व कालों में विद्यमान रही है। यद्यपि इसके स्वरूप में देश व कालानुसार पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। समयानुसार मानव समाज के विकास व परिवर्तन के अनुरूप ही अन्य सामाजिक संस्थाओं की भांति इसमें भी काफी अन्तर आया है। विभिन्न समाजों व परिवेश में परिवार की संरचना पर विचार करने से दो प्रकार के परिवार देखने को मिलते है - संयुक्त परिवार व एकल (एंकाकी) परिवार।

**संयुक्त परिवार–** संयुक्त परिवार वह होते हैं, जहाँ रक्त संबंध वाले अनेक सदस्य एक साथ एक ही छत के नीचे मिल जुल कर रहते हैं और अपने-अपने उत्तरदायित्वों का विर्वाह करते हुए अपना विकास व अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं। दूसरे शब्दों में कई परिवार या पीढ़ीयाँ इसमें एक साथ रहती हैं। कदाचित् आकार में यह गाँव के आकार से भी बढ़ा होता है। संयुक्त परिवार में पति-पत्नी, मातापिता, भाई-बहन, दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, नाती-पोते, पुत्र व पुत्रवधुएँ आदि संयुक्त रूप से निवास करते हैं।

**एकल (एंकाकी) परिवार–** वे परिवार जिनमें अधिकांशत: पति-पत्नी अपनी-अपनी सन्तान के साथ रहते हैं एकल या एकांकी परिवार होते हैं। इनको वैयक्तिक परिवार भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें विवाहोपरान्त

व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ परिवार का विकास करता है और सन्तान सहित निवास करता है। कुछ परिवारों में माता-पिता भी अपने पुत्र के साथ ही रहते है। इनका आकार संयुक्त परिवार की अपेक्षा अल्प होता है।

**संयुक्त परिवार के विघटन के कारण–** भारतीय समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली की संरचना देखने को मिलती है किन्तु आजकल संयुक्त परिवार की प्रवृत्ति विलुप्त होती दिखाई दे रही है और लोगों का रुझान न्यूक्लियर अर्थात् एंकाकी परिवार की ओर बढ़ रहा है। समाज में एकल परिवारों के विकास व सयुंक्त परिवार के विघटन के अनेक कारण हैं, जिनमें से प्रमुख कारण निम्न हैं–

1. औद्योगिकरण, 2. नगरीकरण, 3. संपत्ति सम्बन्धी बाध्यताएँ, 4. प्रेम आधारित विवाह, 5. भौतिक व व्यवसायिक गतिशीलता, 6. वेतन पर आश्रित जीविका, 7. आधुनिक शिक्षा, 8. व्यक्तिवादी विचारधारा।

**पुरुष व स्त्री सत्ता आधारित परिवार–** संयुक्त व एंकाकी परिवारों के अतिरिक्त पुरुष व स्त्री के वर्चस्व या प्रधानता के आधार पर भी परिवारिक विभेद समाज में देखने को मिलता है। परिवारिक सत्ता व प्राधिकार के आधार पर परिवार को पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। पितृसत्तात्मक श्रेणी के परिवार में मुखिया पिता होता है और परिवार संबंधी सत्ता और अधिकार पिता में निहित होता है। मातृसत्तात्मक परिवार प्रणाली में परिवार संबंधी समस्त अधिकार व वंशक्रम माता के पास होते हैं।

अधिकांश समाजों में पितृवंशीय परिवार प्रणाली प्रचलित है, जिसमें पूर्वज पुरुष होता है। मातृवंशीय या मातृसत्तात्मक परिवार प्रणाली कुछ ही क्षेत्रों में पाई जाती है जिसमें विवाह के उपरान्त पति अपनी पत्नी के माता-पिता के साथ जाकर रहता है। भारतवर्ष में इस प्रकार की परिवार प्रणाली मेघालय राज्य के खासी, जंयतिया और गारो जनजातियों में प्रचलित है।

### (ख) विवाह

वि उपसर्ग √ वह् तथा ध प्रत्यय से मिलकर विवाह शब्द बना है जिसका अर्थ है– वहन करना अर्थात् अपने विभिन्न समाजिक, धार्मिक

आदि उत्तरदायित्वों को पत्नी सहित पूर्ण करना या पत्नी की सहभागिता से उनका निर्वाह (वहन) करना। धर्मशास्त्रों में यह धार्मिक संस्कार के रूप में वर्णित है तथा समाज दर्शन की दृष्टि से समाज की प्रथम इकाई परिवार के सर्जन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी समाजों व संस्कृतियों में इसका अस्तित्व पाया जाता है। धर्मशास्त्र में विवाह के लिए उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जो साभिप्राय है–

**उद्वाह–** वधू को पिता के घर ले जाना।

**परिणय–** चारों और घूमना अर्थात् अग्नि की परिक्रमा करना या प्रदक्षिणा करना।

**उपयम–** किसी को निकट लाकर अपना बनाना।

**पाणिग्रहण–** वधू का हाथ ग्रहण करना।

विवाह का मूल अर्थ वर द्वारा वधू को अपने घर ले जाने से है, किन्तु अब यह शब्द उन सभी कर्मकाण्डों का प्रतीक है जो वर के वधू घर आने से लेकर चतुर्थी कर्म पर्यन्त किए जाते है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने समस्त सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है।

## विवाह के प्रकार

भारतीय शास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार स्वीकार किए गए हैं– ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस व पैशाच । किन्तु इनके नामों व क्रमों में पर्याप्त मतभेद है। साथ ही विभिन्न ग्रन्थों में इनकी संख्या भी भिन्न-भिन्न है, यथा– मानवगृह्यसूत्र में ब्राह्म व शौल्क (आसुर) दो का ही नामोल्लेख मिलता है। आपस्तम्ब प्राजापत्य व पैशाच को छोड़कर छः ही विवाह स्वीकार करते हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में ब्राह्म, देव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र (राक्षस) व मानुष (आसुर) का ही उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य प्राजापत्य को काम भी कहते हैं।

1. **ब्राह्मविवाह–** इसमें पिता किसी योग्य वेद परांगत, सच्चरित्र

तथा शीलवान वर को आमन्त्रित कर आभूषणों से युक्त कन्या का दान करता है।[1]

2. **देव विवाह–** पिता द्वारा किसी पुरोहित को वस्त्राभूषण से अलंकृत कन्या का दान देव विवाह कहा जाता है।[2] आपस्तम्ब के अनुसार पिता श्रौतयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले ऋत्विज को कन्या प्रदान करता है, जो पुरोहित हो।[3] याज्ञवल्क्य ने यज्ञानुष्ठानकर्त्ता ऋत्विज् को कन्यादान करना देव विवाह माना है।[4]

3. **आर्ष विवाह –** जब कन्या का पिता धर्म-कार्य की सिद्धि के लिए वर से-एक बैल और गाय अथवा इनकी दो जोड़ी लेकर विधिपूर्वक कन्या का दान कर देता है, तब उसे आर्ष विवाह कहते है।[5]

4. **प्राजापत्य विवाह –** इस विवाह में वर की विधिवत् पूजा करके कन्या का दान दिया जाता है तथा वर-वधू को यह निर्देश दिया जाता है कि गृहस्थ जीवन में दोनों मिलकर धर्म पालन करें।

5. **आसुर विवाह –** जब कन्या के माता-पिता कन्या के बदले में वर से धन या द्रव्य प्राप्त कर कन्या को विवाह के लिए समर्पित करते है और वह उस कन्या को स्वीकार कर लेता है तो यह आसुर विवाह कहा जाता है।[6]

6. **गान्धर्व विवाह –** जब वर व कन्या अपनी इच्छा से संयुक्त हो जाते हैं, तो उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं।[7]

7. **राक्षस विवाह –** बल प्रयोग द्वारा कन्या के बन्धुओं को मारकर, घायल कर रोती-बिलखती हुई कन्या को बलपूर्वक छीन लिया जाता है और विवाह किया जाता है। इसे राक्षस विवाह कहते हैं।[8]

8. **पैशाचा विवाह –** इस विवाह में सोती हुई, उन्मत्त कन्या के

साथ जब कोई कामुक व्यक्ति मैथुन कर उसे अपवित्र कर उसके साथ विवाह कर लेता है, तो वह पैशाच विवाह कहा जाता है।[9] इसे सभी विवाहों में निन्दनीय व गर्हित माना जाता है।

विविध वर्णों के लिए निर्धारित इन अष्टविध विवाहों में प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म देव, आर्ष व प्राजापत्य को श्रेष्ठ माना गया है। इनमें में ब्राह्म विवाह सर्वाधिक प्रशस्त है, शेष चार विवाह निकृष्ठ कोटि के हैं। इनमें भी पैशाच निष्कृष्टम है। प्राचीन समाज में इन विविध विवाहों को स्वीकृति सम्भवत: पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से ही मिली थी, क्योंकि उस समय पुत्रों का महत्व सर्वोपरि था, जो धर्मशास्त्रों में वर्णित विविध प्रकार के पुत्रों के वर्णन से स्पष्ट है।

**सवर्ण व असर्वण विवाह**

धर्मशास्त्रों में सवर्ण व असवर्ण दो प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। ये सवर्ण व असवर्ण को जानने के लिए इन शब्दों को समझना अनिवार्य है। प्राय: यह तथ्य सर्वविदित है कि प्राचीन समाज में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी, जो चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र की सूचक है। इसका विस्तृत विवेचन अग्रिम अध्याय में किया गया है।

मूलत: यह वर्ण-व्यवस्था अर्थमूलक है अर्थात् अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध है, क्योंकि समाज में मनुष्यों की जो सार्वभौमिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति का ये साधन थीं। इनमें मनुष्य के लिए जीविकोपार्जन की विविध वृत्तियों का निर्देश धर्मशास्त्रकारों नें किया है, जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थी। विवाह के प्रसंग में सवर्ण व असवर्ण से अभिप्राय है- एक ही वर्ण वाले व भिन्न वर्ण वाले। विवाह चूंकि स्त्री व पुरुष के संयोग से सम्बद्ध है तो यहाँ भी ये दोनों शब्द उसी प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं-

1. **सवर्ण विवाह** – वह विवाह जहाँ वर व वधू दोनों एक ही वर्ण के होते हैं अर्थात् पति यदि ब्राह्मण है तो वधू भी ब्राह्मण हो और यदि एक क्षत्रिय या वैश्य तो दूसरा भी उसी वर्ण का हो।

2. **असवर्ण विवाह** – वह विवाह जिनमें वर व वधू दोनों भिन्न-भिन्न वर्ण के होते हैं। इस असवर्ण विवाह के पुन: दो भेद है– अनुलोम व प्रतिलोम।

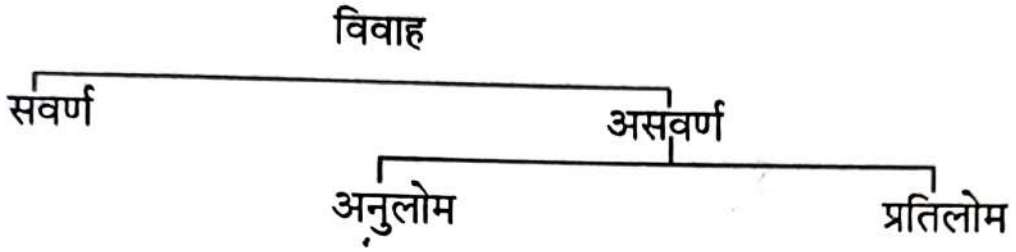


**अनुलोम विवाह**– इन विवाहों में उच्च वर्ण का वर अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता है, जैसे-ब्राह्मण क्षत्रिया, वैश्या या शुद्रा से विवाह करे तो वह अनुलोम विवाह होता है। यही अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी है।

**प्रतिलोम विवाह**– जब निम्न वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करता है तो उसे प्रतिलोम विवाह कहते है, जैसे-क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी से विवाह करना।

प्राचीन समय में अनुलोम विवाह तो विहित माने जाते थे किन्तु प्रतिलोम विवाहों की भर्तसना (निन्दा) की गई थी। इनमें सर्वाधिक महत्व यद्यपि सर्वण विवाह का ही था, किन्तु अन्य विवाह भी समाज में न्यूनाधिक रूप से प्रचलित रहे, जिनमें उत्पन्न सन्ताने वर्णसंकर कहलाई (इसका वर्णन अग्रिम अध्याय वर्णव्यस्था एवं जातिव्यवस्था में किया गया हैं)। किन्तु उन विवाह सम्बन्धों को नियन्त्रित करने के लिए वर्ण संकर उनसे (विवाह से) उत्पन्न वर्णसंकर सन्तानों के अधिकार क्षेत्र को सीमित कर दिया गया और उन पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाए गए। यहाँ तक कि प्रतिलोम-विवाह से उत्पन्न कुछ सन्तानों को तो साम्पत्तिक (उत्तराधिकार) अधिकार ही प्राप्त नहीं थे, अर्थात् इन विवाहों (प्रतिलोम) को सामाजिक प्रोत्साहन प्राप्त नहीं था।

इन असवर्ण विवाहों के अतिरिक्त सवर्ण विवाहों पर भी कुछ निषेध थे– 1. सगोत्र विवाह 2. सपिण्ड विवाह 3. सप्रवर विवाह।

**सगोत्र विवाह**– धर्मशास्त्रों में इसका निषेध हैं, गोत्र शब्द के गोशाला, व्यक्तियों का समूह आदि अर्थ भी है, किन्तु साधारणतया इसका अर्थ पूर्व

पुरुष समझा जाता है। पाणिनी ने गोत्र शब्द की व्याख्या वंश या कुल के अर्थ में की है।[10] गोत्र शब्द उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त होता है, जिनके नाम पर कुल या वंश का प्रचलन होता है तथा जो विद्या, धन, शौर्य, उदारता आदि गुणों के लिए विख्यात होता है।[11] प्राय: सभी धर्मशास्त्रों में समान गोत्र की कन्या से विवाह का निषेध है।

**सपिण्ड विवाह–** पिण्ड का अर्थ है – शरीर। इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ है—समान शरीर के अंश वाले व्यक्ति। व्यक्तियों में सपिण्डता का सम्बन्ध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनों (वर व वधू) में एक ही शरीर के अंश विद्यमान है अर्थात् जिस प्रकार बालक अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदि से सपिण्ड से सम्बन्धित होता है, उसी प्रकार वह अपनी माता, मातामही व मातुल, मौसी आदि से संबंधित होता है। यही बात बालिका (कन्या) के पक्ष में भी मान्य है। दूसरे शब्दों में रक्त संबंध से सम्बद्ध व्यक्ति सपिण्ड के अन्तर्गत आते हैं। अत: धर्मशास्त्रों में सपिण्ड विवाह का निषेध है। विवाह निश्चित करते समय इसका ध्यान रखना आवश्यक होता है। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से पिता से सात पीढ़ी व माता से पाँच पीढ़ी तक विवाह न करने का निर्देश दिया है।[12]

**सप्रवर विवाह–** धर्मशास्त्रों में सप्रवर (सगोत्र) विवाह का भी निषेध किया गया है। सप्रवर संगोत्र विवाह विवाह से मिलता-जुलता है। प्रवर आर्ष पुरुष (ऋषि) का घोतक है, जो याज्ञिक कार्य से सम्बद्ध थे। ये ऋषि व्यक्ति के पूर्वज के रूप में उसके आध्यात्मिक, सांस्कारिक और समाजिक व्यस्थाओं के साथ धीरे-धीरे जुड़ते गए, जो बाद में प्रवर के जनक के रूप में विकसित हुए। इस प्रकार प्रवर "ऋषि गोत्र" का सूचक है। अत: समान प्रवर या समान ऋषिगोत्र में भी विवाह निषिद्ध है।

वर्तमान समय में अन्तर्जातीय विवाह व बहिर्जातीय विवाह भी देखने को मिलते हैं। प्राय: आज अधिकांश समाजों में ये दोनों पद्धतियाँ पाई जाती हैं।

**अन्तर्जातीय विवाह–** इस पद्धति के अन्तर्गत एक जाति, जनजाति, समूह या समुदाय के सदस्य अपने ही समूह के मध्य विवाह करते हैं।

**बहिर्जातीय विवाह–** इस सिद्धान्त के अन्तर्गत एक ही जाति के

लोगों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वें अपने निकट रक्त सम्बन्धियों, परिवार के सदस्यों; गोत्र, पिण्ड व प्रवर के मध्य विवाह न करें।

इन विवाहों में एक जाति अथवा जनजाति के सदस्यों से यह अपेक्षा होती थी कि वे अपनी ही जाति में विवाह करें, किन्तु अपने संबन्धियों (निकटतम नातेदारी) में न करें।

इन विविध विवाह पद्धतियों के प्रचलन के कुछ अन्तनिर्हित कारण थे, जिनके कारण इनका विकास हुआ। जैसे–

1. अपने समूह की रक्त संबंधी शुद्धता को बनाए रखना।

2.समूह की सांस्कारिक, सांस्कृतिक व कौशल विषयक गोपनीयता को बनाए रखना आदि।

इस प्रकार सामाजिक ढाँचें के उद्भव, विकास व निर्माण में परिवार व विवाह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं, जिन पर संस्कृत वाङ्मय में विस्तृत, सर्वांगीण और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। मनुष्य के आन्तरिक जीवन का प्रथम पदार्पण परिवार में होता है, जहाँ से उसे सामाजिक परिवेश में प्रविष्ट होने का प्रांरभिक अधिकार व शिक्षा मिलती है और उसका शारीरिक, मानसकि व बौद्धिक विकास होता है। तदनन्तर विवाहोपरान्त विवाह संस्था या वैवाहिक सम्बन्ध के माध्यम से उसका सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है, जिसके द्वारा वह समाज के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में अपनी भूमिका को वहन करता है और अन्य सामाजिक संस्थाओं (धर्म, वर्ण, आश्रम, राष्ट्र आदि) का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उत्तरदायित्व ग्रहण करता है।